शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. X, No. 1, pp (215-221), Jan-March 2019

माखनलाल चतुर्वेदी और दिनकर की प्रगतिवादी विचारधारा

डा0 सपना बंसल
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
समर हिल, शिमला
ईमेल - bansalshimla@gmail.com

सारांश

प्रगतिवाद मनुष्य स्वाभाविक न्यायप्रियता और त्यागमयता में विश्वास करता है और यह मानता है कि सामाजिक क्रान्ति की भित्ति पर जिस नूतन समाज की रचना होने जा रही है, वह मानव–स्वभाव के अत्यन्त अनुकूल होगा। मानव के कल्याण से कटा हुआ साहित्य बिना आधर का महल है जिसका गिरना अवश्यम्भावी है।

प्रस्तावना

हिन्दी–साहित्य में जैसे छायावाद एक क्रांतिकारी घटना के रूप में आया, वैसे ही छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद का जन्म हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद का जन्म सन् 1936 ई0 से माना जाता है, जब प्रेमचन्द की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हुई थी। इसी संघ की स्थापना के साथ हिन्दी–साहित्य में एक नए युग का शुभारम्भ होता है। साहित्य–लेखन में इस वाद का विशिष्ट महत्त्व रहा है। सुशीला मिश्रा ने प्रगतिवाद के संदर्भ में विस्तृत टिप्पणी करते हुए लिखा है, प्रगतिवाद के अनुसार साहित्य मात्रा कल्पना का विकास नहीं है, फूलों और तितलियों का देश नहीं है। इसमें जीवन के आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का महत्त्व अधिक है। इस दृष्टि के कारण कला की बारीकियों को गौण माना जाने लगा। जीवन का यथा तथ्य चित्राण ही साहित्य का लक्ष्य मान लिया गया और उसी के अनुरूप जीवन से ही सरल भाषा शैली और प्रतीक को भी ग्रहण किया गया। इसमें परिगणित कलाकार सामाजिक वैषम्य, शोषण, अनाचार, साम्राज्यवाद और औपनिवेशकता के विरुद्ध थे। इसमें मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन को स्वीकृति दी गई जिसका मूल लक्ष्य वर्गविहीन समाज की स्थापना थी। मार्क्स के सिद्धान्तों के फलस्वरूप ही सम्पूर्ण विश्व में औद्योगिक क्रांति की लहर फैली और भारत भी उससे प्रभावित हुआ।

प्रगतिवादी विचारधारा

भारत में हृदय–परिवर्तन की जगह पर लोगों ने उस क्रांति को स्वीकृति देना बेहतर समझा जिससे समाज के शरीर के रूग्ण हिस्से को निकालकर उसे स्वस्थ जीवन प्रदान कर सके। साहित्य का प्रगतिवाद राजनीति के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ। अतएव कहा जा सकता है कि

राजनीति का समाजवाद ही साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से विख्यात हुआ। छायावादी काव्यधरा में जो त्रुटियां थीं, वे ही मार्जित होकर प्रगतिवादी काव्यधरा के रूप में सामने आयीं। अनेक चीज़ें जो छायावाद में थीं, प्रगतिवाद में भी बनी रहीं, यहाँ तक कि छायावाद के अनेक उन्नायक कवि ही प्रगतिवाद के भी श्रेष्ठ कवि माने गए। इसलिए साहित्यहासकारों ने इस काल को प्रगतिवाद न कहकर छायावादोत्तर काल कहा है। माखनलाल चतुर्वेदी समय–प्रेरित आन्दोलनों छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के प्रति आस्था नहीं रखते। इसीलिए उन्होंने कहा है, वादों में मरी आस्था न कभी थी न आज है। छाया, रहस्य, प्रगति, प्रयोग, प्रतीक और रीति–इन वादों में से किसी वाद पर ठहरने की मैंने कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की। आधुनिक हिन्दी कविता की वाद–निबद्धता के प्रति कवि की उपेक्षा अन्यत्रा भी संकेतित है। इनमें प्रगतिवाद का यह वर्ग–संघर्ष अधिक मुखर नहीं है। इनमें सामाजिक विषमता के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश तो है, किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था को उलट डालने की क्रूर–कामना नहीं है। दूसरे शब्दों में वे प्रगतिवादी नहीं, प्रगतिशील कवि हैं। यदि कोई कहे कि छायावाद युग के बाद, सचमुच ही एक युग आया था जिसका नाम प्रगतिवाद युग है तो सहज ही यह प्रष्न उठेगा कि यह प्रगतिवादी युग, मोटे तौर पर कब से कब तक रहा और उसके कवि कौन लोग थे? जहाँ तक सत्य काव्यगत प्रसार की बात है, हिन्दी में उल्लेख प्रगतिवादी युग का नहीं, प्रगतिशील प्रवृत्ति का होना चाहिए। वर्गविहीन समाज की स्थापना के सन्दर्भ से प्रगतिवादी चिंतकों पर टिप्पणी करते हुए नवीन ने कहा है, यदि कोई यह समझता हो कि हिन्दी–काव्य–साहित्य में प्रकटित द्वन्द्व–भावना सामान्तशाही के अवशेषों और साम्राज्यशाही के स्वार्थ प्रसार के कारण है तथा इनके तिरोहित होते ही यह द्वन्द्व समाप्त हो जायगा, तो मैं यही कहूँगा कि यह मान्यता अशुद्ध, तर्कशून्य थोथी और निःसार है। द्वन्द्व और उसकी वेदना–व्यथामयी अभिव्यक्ति मानव–जीवन के संग संश्लिष्ट है। पूर्ण वर्ग–विहीन समाज में क्या मानव इतना जड़, स्पन्दनहींन, संवदेन–रहित एवं शूकर–सन्तोषवान् हो जायगा कि वह कस्त्वं? कोऽहं? के प्रश्न न पूछे? वह पूछेगा, वह पूछ रहा है। इस कारण भी समाज–व्यवस्था में मानव–हृदय के द्वन्द्व के तिरोधन होने की बात कहना भ्रान्तिमय है। हाँ, आत्मोपलब्धि की साधना में निर्द्वन्द्वता आ सकती है।

विश्व के सारे साहित्यिकवाद जो विभिन्न चिंतन परम्पराओं से उत्पन्न हुए हैं, वे किसी–न–किसी रूप में सीमा में बद्ध है। केवल भारतभूमि में जन्मा उपनिषत् गांधी–बद्ध मार्ग ही ठीक है। नवीन कहते हैं, जो आलोचक यह कहते हैं कि हिन्दी के साहित्यिक गांधीवादी एवं उपनिशत् दृष्टिकोण और बौद्ध दर्शन से प्रभावित होने के कारण सामन्तवाद के घोषक हैं या उससे समझौते कर चुके हैं, उन आलोचकों से यदि कोई यह पूछे कि भाई, क्या तुमने कोई तीर मारा है, तो वे यही कहेंगे कि हाँ, हम विचारों की क्रान्ति कर रहे हैं। ऐसे निष्क्रिय, पोथी–पन्थी, विचार–पुण्य–जीवी, उच्छिष्ट–भोजी आलोचकों का जन–संघर्ष में कोई हाथ नहीं। वे जनता से कोसों दूर हैं। हाँ मुख चर्चा में प्रवीण है। हिन्दी साहित्य में जो विभिन्न साहित्यिक वाद उत्पन्न हुए उन्हें नवीन ने 'वादी' कहा और सच्च से कोसों दूर कहा असल में सृजन का धर्म नहीं है जो राष्ट्र का धर्म भी है। वे आगे कहते हैं, आज वही बात हो रही है। मानव के इतिहास को, मानव

की संस्कृति को, मानव की अभिव्यक्ति को जब तक हम मानववाद की दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक काम न चलेगा। यदि हम इनकी ओर वर्गवाद या पूँजीवाद या समाजवाद की दृष्टि से देखते चले गए तो हमें चित्रा का विकृत रूप ही दिखाई देगा। नवीन भावों के मंजुल संयोजन पर बल देते हुए कहते हैं कि मान लीजिये कि समाज में पूर्ण रूप से वर्गहीनता स्थापित हो गई। तब क्या उस वर्गहीन, समतामय, शोषण–शासन–रहित समाज का मानव, जहाँ तक उसके मनोरोगों का सम्बन्ध है, आज के मानव से बहुत भिन्न होगा? क्या उस वर्गहीन जन के करुण, प्रेमल, वत्सल भाव आज के मानव के इन भावों से भिन्न प्रकार के हो जायेंगे? और यदि नहीं, तो उन भावो की अभिव्यक्ति क्या आज की अभिव्यक्ति से बहुत भिन्न हो जायगी? हाँ, अभिव्यंजना के व्याज चाहे कुछ भिन्न हो जायें, पर और कोई गहरा अन्तर पड़ सकता है, यह मैं नहीं मानता। साम्यवादी समाज में मानव के इन रागों का रूपान्तर हो जायगा–यह मान सकना सम्भव नहीं। जब किसी गतिवान् वस्तु को देखकर कोई बच्चा वर्गहीन समाज में खिल–खिलाकर हँस उठेगा और किलकारी भरने लगेगा तो उस वर्गहीन समाजवादी माँ को वैसा ही सुख होगा आज के पूँजी–शोषणवादी समाज की माँ को होता है। हाँ, इस सुख की अभिव्यक्ति के व्याज में अन्तर हो सकता है। आज की माँ, जो निर्धन और निःसाधन है, अपने बालक की किलकारी से उत्पन्न अपनी प्रसन्नता कदाचित् यों व्यक्त करे :

आली, मैं निहाल–निहाल
रेलगाड़ी निरख कर किलका समुद्र मम लाल
आली, मैं निहाल–निहाल।

और, वर्गहीन समाज की भरी–पूरी माँ इस सुख को कदाचित् यों व्यक्त करेगीः

आली, मैं निहाल–निहाल
लख सुएटम–चलित नभ–रथ किलकता मम लाल
आली, मैं निहाल–निहाल।

स्वाधीनता संग्राम में कृषक एवं मजदूर वर्ग की बढ़ती हुई भूमिका के कारण भारत में पनपी साम्यवादी विचार धरा का प्रभाव राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रा से आगे बढ़कर साहित्य के क्षेत्रा में भी दिखायी पड़ा। अतः साहित्यकार भी अपने संगठन बनाने लगे। सन् 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिससे यह विचारधारा तीव्रता से साहित्यिक क्षेत्र में प्रसार पाने लगी। साम्यवादी विचारकों एवं कवियों ने जहां भारत में राष्ट्रीय विचारधारा को एक नये रूप में पनपने में सहायता की। वहीं इनका दृष्टिकोण कहीं–कहीं राष्ट्रीयता के विकास में बाधक भी रहा। सन् 1942 की क्रांति को कुचलने में कम्युनिष्टों ने जहाँ अंग्रेजों का साथ दिया, वहाँ परोक्ष रूप से प्रगतिशील आन्दोलन अंग्रेजों का समर्थन करता रहा। साम्यवादी अन्धश्रद्धा के कारण राष्ट्रीयता विरोधी विष भरा गया। उसने राष्ट्रीय चेतना पर कठोर प्रहार किया। विशेष कर चतुर्वेदी बालकृष्ण शर्मा नवीन दिनकर ने साँस्कृतिक राष्ट्रीयता के साथ–साथ प्रगतिशील राष्ट्रीय काव्य के गीत भी गाए। इस काल के राष्ट्रीय काव्य में सामाजिक यथार्थ का चित्राण, साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष, मानवता की प्रतिष्ठा इस सन्दर्भ में

उल्लेखनीय है। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने मानव की आर्थिक दुरावस्था पर आँसू बहाए हैं। इस आर्थिक विषमता पर चिन्ता प्रकट करने के साथ ही यह कवि इस विषमता को शोषक–शोषित के भेद को मिटाकर समता लाने हेतु साम्यवादी चिंतन को अपनाते हैं। दिनकर के काव्य कुरुक्षेत्र की निम्न पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं, यथा–

शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख भाग न नर का सम होगा
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम होगा।

राजनीतिक और आर्थिक शोषण के साथ–साथ इन प्रगतिवादियों ने सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध परम्पराओं के विरुद्ध भी विद्रोहात्मक आवाज उठाई। इन्होंने जाति, वर्ण एवं सम्प्रदायगत भेदभाव को दूर कर एक नवीन मानव समाज का निर्माण करना चाहा, ताकि सबमें एक समान भावों का विकास हो सके। ये कवि प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्वतन्त्राता के पक्षधर थे। इन्होंने वर्तमान रूढ़िग्रस्त समाज के विनाश के उपरान्त ही नवीन स्वस्थ एवं समता पूर्ण समाज निर्माण की आकांक्षा प्रकट की है।

राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से जहां छायावादी काव्यधरा प्राचीन वैभव के गौरवागान तथा वर्तमान राजनीति संघर्षों को प्रमुख अभिव्यक्ति देती है वहीं प्रगतिवादी काव्यधरा अर्थोन्मुखी हैं। इसी शृंखला में नवीन ने भी चिंतन और सृजन इन दोनों कर्मों से प्रगतिशीलता की दुन्दुभि पूरे जोर से बजायी। इन्होंने लेखन के दोनों स्तरों पर प्रगतिशीलता को बहुत जोर से उठाया और मार्क्सवाद एवं साम्यवादी चिंतन धराओं पर स्वतन्त्रा रूप से लेखन कार्य किया। 'क्वासि की यह टेर मेरी' में नवीन विस्तार से निवेदन करते हुए कहा है कि मेरे एक समान्य मित्रा ने अपने ह्रदय की करुणा और दया की भावना मेरे प्रति व्यक्त करते हुए एक बार कहा था कि प्रगतिशील 'नवीन' तो मर गए अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन। प्रगतिशील नवीन सम्भव है, या तो मर चुके हों, या कदाचित् वे कभी, उनके अर्थ में, प्रगतिशील रहे ही न हों। हमारी भाषा में इस 'प्रगतिशील' या 'प्रगतिवादी' शब्द की इतनी मल्लिनाथी टीकाएँ हुई हैं कि वास्तविक रूप से इस शब्द के अर्थ का समझना भी दूभर हो गया है। कभी कोई कवि प्रगतिशील हो जाता है, कभी वही परम्परावादी, प्रतिगतियुक्त और प्रतिक्रिया–निरत बन जाता है।

प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए नवीन कहते हैं, मेरा निवेदन है कि प्रगतिशीलता के नाम पर जहाँ इस प्रकार का नग्न नृत्य–अपने राग–द्वेषादि मनोविकारों का ऐसा अचैल प्रदर्शन– हो रहा हो, वहाँ साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन कैसे हो सकता है? और, इस कारण, मेरे उन मित्रा के शब्दों में यदि बेचारे प्रगतिशील 'नवीन' मर चुके हों तो किम् आश्चर्यम्–अतः परम् स्थापनाओं का मूल्य–मान–दण्ड ही जहाँ इतना विकृत, अस्थिर एवं डगमग हो वहाँ उसकी कसौटी पर किसी कवि या साहित्यिक कृति का मूल्यांकन कैसे किया जाए? उग्रतापूर्वक लिखना मैं भी जानता हूँ। पर, इन आलोचक बन्धु के विचारों की आलोचना मैं उस रीति से नहीं करूँगा। मैं इन महाशय के अध्ययन का प्रशंसक हूँ। वे पढ़ते हैं, विचार करते

हैं, भाषा पर उनका प्रभुत्व है। वे परिश्रमशील हैं। मैं यह भी मान सकता हूँ कि उनकी उग्रता, व्यंग–उक्तियाँ कटुवादिता एवं असन्तुलित सम्मति उनके सिद्धान्त–ग्राह के कारण हैं? किन्तु भाई, इस प्रकार बह जाने से तो काम नहीं चलेगा। स्वयं को यदि हम स्थिर न रख सकें और किसी क्षण, यह समझकर कि अमुक व्यक्ति प्रगति–स्तर से भटक गया है, हम उसे खरी–खोटी सुनाने लगें, तो क्या हमारा वह कर्म सत्–साहित्यालोचन होगा? साहित्य–देवता नामक निबन्ध संकलन में चतुर्वेदी ने काव्यात्मक शैली में मानव के मानव रूप में ही रहने की प्रतिज्ञा दोहराते हुए कहा है कि, जल–बिन्दुओं में यदि मिश्रण का स्वभाव न हो तो जल–समूह सिन्धु न कहला सके। द्रवित के देवत्व में प्रकृति ने भी अपने की सीमा–रेखा खींचने में असमर्थ पाया है। इस भूमिका का यदि कोई जल–बिन्दु–प्रतीक ढूँढ़ने चले तो वह किसी सूर, किसी तुकाराम, किसी चेखब के पास आकर ठहर जाय। चतुर्वेदी अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं, विद्रोह की यही भावना थी जिसने ख़यालों के परिवर्तन को जगत् पर उतारा। पहले मानवों के द्वारा विचार बनते थे अब विचारों की ज़मीन पर विधता अपने मानव ढालने को बाध्य हो गया है। यह केवल मेरी लेखनी का प्रसाद था। शास्त्रा बेचारा लाचार था कि उससे सब कुछ बन सकता है, मानव नहीं। सभी तरह की प्रगति सब कुछ पैदा कर सकती है, लेकिन मानव को नये समाज के रूप में और अच्छे मानव के रूप में प्रस्तुति देने का नाम साहित्य–देवता है। चतुर्वेदी कहते हैं, मैं गतिशील हूँ, मैं तरल हूँ, मैं प्रवाही हूँ, मैं निम्नगामी हूँ, मैं विश्व की समस्त हरीतिमा के, भूमि के प्रतिकूल विद्रोह कर, ऊँचा, सपुष्प, सफल बनाने वाला, जीवन रस हूँ।

दिनकर का कहना है कि प्रगतिवाद को मैं हिन्दी कविता का कोई नया जागरण नहीं मानता। खड़ी बोली हैं, और 1920 ई0 से लेकर आज तक कविता के क्षेत्रा में जो भी रूपान्तर देखने को मिले हैं वे इसी जाग्रति के परिपाक की प्रक्रिया के परिणाम हैं। काव्य का जागरण–काल वह होता है, जब जनता कविता की विलक्षणताओं के प्रति आकृष्ट होती है। प्रगतिवाद के प्रति जनता की वर्तमान अनुरक्ति का कारण प्रगतिशील रचनाओं की कलात्मक विलक्षणताएं नहीं, प्रत्युत् उनके भीतर से दमकने वाले सामयिक जीवन का तेज है। प्रगतिवाद का आविर्भाव क्यों हुआ? किन परिस्थितियों ने इस काव्य धरा को प्रश्रय दिया इस ओर भी दिनकर ने स्वयं विस्तृत रूप से चर्चा की है। 'मिट्टी की ओर' नामक पुस्तक में उन्होंने कहा है, प्रगतिवाद परिपाक का फल है जिसका आरंभ छायावाद के साथ हुआ यह सच है कि छायावाद की कुछ आरंभिक रचनाएं अशक्त और निस्सार थीं तथा जीवन के वास्तविक रूपों से उनका संबंध नहीं के बराबर था, किन्तु यह दोष छायावाद से निकली हुई शैली का नहीं, प्रत्युत्त उन कलाकारों का था जो स्वयं ही जीवन के वास्तविक रूपों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थे। प्रगतिवादी चिंतन की सबसे बड़ी पहचान जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण मे निहित है। दिनकर प्रगतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं, प्रगतिवाद हमारे साहित्य का कोई जागरण विशेष है या नहीं। कम–से–कम कविता में तो वह किसी नव जागरण का सूचक नहीं है। जिन कविताओं को हम प्रगतिशील कहते हैं उनके प्रति जनता के रूझान का कारण उनकी काव्यात्मक विलक्षणताएं नहीं, प्रत्युत्त उनके भीतर से सुनाई पड़ने वाला राजनीति का नाद है। अतएव कहा जा सकता है कि

दिनकर प्रगतिवाद को हिन्दी काव्यधरा के संदर्भ में कोई नवीन जागरण नहीं मानते। अर्थात् दिनकर प्रगतिवाद को साहित्यिक आन्दोलन न मानकर साहित्येतर आन्दोलन मानते हैं और कहते हैं कि कुछ लोगों ने राजनीति के प्रचार के लिए इस साहित्यधरा का सहारा लिया। उन्होंने माना है कि साहित्य में प्रगतिवाद का आविर्भाव किसी कलात्मक अथवा सौन्दर्य–बोध विषयक जागरण का सूचक नहीं है, क्योंकि अभी तक उसके प्रति जनता के आकर्षण का कारण उसकी कलात्मक शोभा नहीं प्रत्युत, समकालीन जीवन के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और आस्था के भाव हैं। इस दृष्टि से प्रगतिवाद ने अब तक साहित्य की शैली नहीं, वरन् उसके द्रव्य में उत्क्रांति की है। इन्होंने प्रगतिवाद को छायावाद का ही उन्नायक माना है। छायावादी काव्यधरा की अनेक जीवन्त प्रवर्षत्तियाँ प्रगतिशील एवं प्रगतिवादी काव्य में विद्यमान रही हैं। केवल भूमि से कटकर जो व्योम–विहरण की प्रवृत्ति छाया युगीन काव्य में प्रभुत्व पा बैठी थी, उसके स्थान पर प्रगतिवादी काव्य ने जन्म लिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है, सिर्फ निजी दृष्टिकोण से मैं इसे छायावाद का जीवनोन्मुख विकास मानता हूँ। यह कथन इसलिए भी युक्तियुक्त माना जाना चाहिए क्योंकि प्रगतिवाद के अन्दर गिने जाने वाले अधिकांश कवि वे ही हैं जो छायावाद का अनुगमन करते हुए यहाँ तक आये हैं, यही नहीं प्रत्युत प्रगतिवाद का अग्रणी होने का श्रेय आज जिस कवि को दिया जा रहा है उसी के सिर पर छायावाद का उन्नायक होने का मुकुट भी रखा गया था। प्रगतिवाद को दिनकर ने प्रगतिशील प्रवृत्ति कहा है तथा वे इसे समकालीनता की व्याख्या भी मानते हैं। जब साहित्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आधर बनाकर छायावादोत्तर साहित्य प्रगतिवाद के नाम से आया तो जनमानस में ऐसा संदेश गया कि साहित्य के माध्यम से राजनीति का प्रवेष साहित्य में हो रहा हैं। साहित्य चिन्तकों की चिंता का विषय यह बन गया कि किस प्रकार साहित्य को राजनीति का अनुचर बनने से रोका जाय तथा साहित्यिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की रक्षा की जाय। ऐसा न हो कि साहित्य मात्रा नारा बनकर ही रह जाए। दिनकर ने इस तथ्य को मुक्त कंठ से स्वीकारा है। और गोर देकर कहा है कि सम्पूर्ण विश्व साहित्य में प्रगतिवाद का झण्डा फहरा है और जिन लोगों की आशंका थी कि साहित्य के माध्यम से राजनीति साहित्य में प्रवेश कर रही है वे भी थोड़ा आश्वस्त हुए हैं कि प्रगतिवाद राजनीति नहीं, वरन् साहित्य में एक विशिष्ट प्रकार की नवीनता का द्योतक है और उसका समाज की प्रगतिशील प्रवृत्तियों से पूरा सामंजस्य था। प्रगतिवाद में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का व्यापक उपयोग हुआ है। वर्गविहीन तथा सर्वहारा वर्ग के प्रति उसकी सहानुभूति रही है तथा उसने उनके उत्थान के नारे साहित्य के माध्यम से लगाए हैं। छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवादी काव्य में अंतर सिर्फ इतना ही है कि छायावादोत्तर साहित्यिक आन्दोलन था और उसमें चेतना को प्रभावित करने वाली अनुभूतियां व्यक्त हुई हैं। इस काव्यधरा के कवियों में राजनीतिक चिंतन काव्यकला के रूप में व्यक्त हुआ है। इस काव्यधरा में भी कुछ रचनाकार ऐसे थे जिन पर रानीतिक चिंतन के साथ–साथ, काव्य कला का उतना ही प्रभाव लक्षित होता है। प्रगतिवाद शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन नहीं था इस सन्दर्भ में दिनकर की स्पष्ट मान्यता है, जिस बात का मेरी समझ में विशेष महत्त्व है, वह यह है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, दो भिन्न आन्दोलन हैं। प्रगतिवाद का खास जोर कवियों के

सामाजिक विचार पर था। उसे इस बात की, प्रायः कोई चिंता नहीं थी कि ये विचार शुद्ध कविता की शैली में व्यक्त हो रहे हैं या गद्य कला रीति से। किन्तु इस बात की उसे चिंता थी और बहुत अध्कि थी कि कविगण साहित्य में राजनीति के दल–विशेष की पताका उठाये चल रहे हैं या नहीं। इसीलिए मेरा मत है कि प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था।

सन्दर्भ ग्रंथ

1 *दिनकर की साहित्य दृष्टि*, पृ0 **139, 140**
2 *युगचरण*, भूमिका, पृ0 **4**
3 *माता,* भूमिका, पृ0 **3**[1] बाल कृष्ण शर्मा *'नवीन' काव्य रचनावली*, भाग एक, पृ0 **145**
4 वही, पृ0 **145**
5 बाल कृष्ण शर्मा *'नवीन' काव्य रचनावली*, भाग एक, पृ0 **146**
6 बाल कृष्ण शर्मा *'नवीन' काव्य रचनावली*, भाग एक, पृ0 **146**
7 माखनलाल चतुर्वेदी के *काव्य में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति*, शोधार्थी देश राज, पृ0 **69**
8 *कुरुक्षेत्र*, दिनकर, पृ0 **31**
9 बाल कृष्ण शर्मा *'नवीन' काव्य–रचनावली,* भाग एक, पृ0 **203**
10 बाल कृष्ण शर्मा *'नवीन' काव्य–रचनावली,* भाग एक, पृ0 **204, 205**
11 *साहित्य–देवता,* पृ0 **52**
12 *साहित्य–देवता,* पृ0 **54**
13 वही, पृ0 **58**
14 *मिट्टी की ओर* : दिनकर, पृ**0 128**
15 *मिट्टी की ओर* : दिनकर, पृ0 **122**
16 वही, पृ0 **122**
17 वही, पृ0 **104, 105**
18 *मिट्टी की ओर* : दिनकर, पृ0 **124**
19 *काव्य की भूमिका*, पृ0 **50**
20 *काव्य की भूमिका,* पृ0 **64**